[2009] 3 उम. नि. प. 116

वकील प्रसाद सिंह

बनाम

बिहार राज्य

23 जनवरी, 2009

न्यायमूर्ति डी. के. जैन और न्यायमूर्ति आर. एम. लोढा

संविधान, 1950 – अनुच्छेद 21 [सपठित दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 482, 197, 173, 309, 437(6) और 468] – शीघ्र विचारण का अधिकार – भ्रष्टाचार के मामले में विचारण में अत्यधिक विलंब – दांडिक कार्यवाहियों का अभिखंडित किया जाना – जहां न्यायालय इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि किसी अभियुक्त के शीघ्र विचारण संबंधी अधिकार का अतिलंघन किया गया है वहां यथास्थिति, आरोप या दोषसिद्धि उस दशा में अभिखंडित की जा सकेगी जब अपराध और अन्य सुसंगत परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए कार्यवाहियों को अभिखंडित करना न्याय के हित में हो ।

संविधान, 1950 – अनुच्छेद 21 – शीघ्र विचारण का अधिकार – परिधि और संरक्षण – यह सुस्थापित है कि सभी दांडिक अभियोजनों में शीघ्र विचारण का अधिकार संविधान के अनुच्छेद 21 के अधीन असंक्राम्य है और यह अधिकार न केवल न्यायालय में चल रही वास्तविक कार्यवाहियों को बल्कि उसकी परिधि के अंतर्गत आने वाले पूर्ववर्ती पुलिस अन्वेषण को भी लागू होता है ।

इस मामले में अपीलार्थी को बहुत पहले तारीख 8 अप्रैल, 1981 को भ्रष्टाचार के एक मामले में रंगे हाथ पकड़ने पर तारीख 28 फरवरी, 1982 को एक आरोप-पत्र फाइल किया गया था । मजिस्ट्रेट ने तारीख 9 दिसम्बर, 1982 को संज्ञान लिया । तारीख 6 जुलाई, 1987 तक कुछ भी महत्वपूर्ण कार्यवाही नहीं हुई सिवाय इसके कि जब मामला मुजफ्फरपुर से पटना अंतरित कर दिया गया तब अभियोजन-पक्ष द्वारा मामले के पुनः अन्वेषण के लिए फाइल किया गया तारीख 30 जून, 1983 का आवेदन खारिज कर दिया गया । तारीख 7 दिसम्बर, 1990 को अपीलार्थी ने मुजफ्फरपुर के विशेष न्यायाधीश द्वारा उक्त अपराधों का संज्ञान करने के

लिए पारित आदेश के विरुद्ध इस आधार पर पटना उच्च न्यायालय के समक्ष दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के अधीन याचिका फाइल की कि उस पुलिस निरीक्षक को, जिसने अन्वेषण किया था और जिसके आधार पर आरोप-पत्र फाइल किया गया था, ऐसा करने की कोई अधिकारिता नहीं थी । उच्च न्यायालय ने संज्ञान करने संबंधी मजिस्ट्रेट के आदेश को अभिखंडित कर दिया और अभियोजन को यह निदेश दिया कि इस आदेश की प्राप्ति के तीन मास की अवधि के भीतर पुलिस उप-अधीक्षक के रैंक के किसी अधिकारी या उसके द्वारा इस निमित्त प्राधिकृत किसी अन्य अधिकारी द्वारा अन्वेषण पूरा कराया जाए । इस मामले में आगे कोई प्रगति नहीं हुई और मामला वर्ष 1998 तक वही रहा जब कि अपीलार्थी ने दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के अधीन मुख्यतः इस आधार पर कि उच्च न्यायालय द्वारा तारीख 7 दिसम्बर, 1990 को आदेश पारित करने के साढ़े सात वर्ष व्यतीत हो जाने के पश्चात् भी मामले का पुनः अन्वेषण आरंभ नहीं हुआ था और इस प्रक्रिया में अपीलार्थी को अठारह वर्ष से भी अधिक समय तक असम्यक् परेशानी हुई थी, उसके विरुद्ध लंबित समस्त दांडिक कार्यवाहियों को अभिखंडित करने की ईप्सा करते हुए एक अन्य याचिका फाइल की । अंततः, उक्त याचिका में जब लगभग नौ वर्ष के पश्चात्, मामला अंतिम सुनवाई के लिए प्रस्तुत किया गया तब सतर्कता विभाग के काउन्सेल ने अन्वेषण के प्रक्रम के बारे में अनुदेशों की ईप्सा करने के लिए समय मांगा । इसके परिणामस्वरूप अभियोजन-पक्ष की ओर से एक शपथपत्र फाइल किया गया जिसमें अन्य बातों के साथ यह कथन किया गया कि पुलिस अधीक्षक, मुजफ्फरपुर ने तारीख 22 फ़रवरी, 2007 के अपने पत्र द्वारा पुलिस उप-अधीक्षक को अन्वेषण पूरा करने का निदेश दिया था । उप-अधीक्षक ने उक्त निदेश के अनुसरण में तारीख 28 फ़रवरी, 2007 को अन्वेषण आरंभ किया और अंततः तारीख 1 मई, 2007 को नया आरोप-पत्र फाइल किया । उच्च न्यायालय ने याचिका ख़ारिज कर दी । विद्वान न्यायाधीश ने विचारण न्यायालय को मामले का विचारण लगातार करने और उसे चार मास की अवधि के भीतर पूरा करने का निदेश दिया । न्यायालय ने यह भी निदेश दिया कि यदि अब तक राज्य सरकार की मंजूरी नहीं ली गई है तो राज्य सरकार द्वारा इस आदेश की तारीख से छह सप्ताह की अवधि के भीतर मंजूरी प्रदान करने के प्रश्न पर विचार किया

जाएगा । उक्त विनिश्चय से व्यथित होकर अपीलार्थी ने प्रस्तुत अपील फाइल की है । उच्चतम न्यायालय द्वारा अपील मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित – निःसंदिग्ध रूप से, दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 482 के अधीन उच्च न्यायालय को जो शक्ति प्राप्त है वह बहुत व्यापक है किन्तु उसका प्रयोग समुचित मामलों में, न्यायानुसार, वास्तविक और सारभूत न्याय के लिए करना होता है जिसके प्रशासन के लिए ही न्यायालय विद्यमान हैं । अंतर्निहित शक्तियां उच्च न्यायालय को सनक या मनमर्जी के अनुसार कार्य करने की मनमानी अधिकारिता प्रदान नहीं करतीं । यह कहना सही है कि उक्त शक्तियों का प्रयोग यदा-कदा और छानबीन के पश्चात् ही वहां किया जाना चाहिए जहां न्यायालय का अभिलेख पर विद्यमान सामग्री के आधार पर यह समाधान हो जाता है कि कार्यवाहियां चलते रहने के लिए अनुज्ञात करने से न्यायालय की प्रक्रिया का दुरुपयोग होगा या न्याय के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए यह आवश्यक है कि कार्यवाहियां अभिखंडित की जानी चाहिएं । (पैरा 9)

इस न्यायालय ने समय-समय पर शीघ्र अन्वेषण और विचारण की आवश्यकता पर जोर दिया है क्योंकि दोनों दंड प्रक्रिया संहिता के उपबंधों की भाषा और भाव की दृष्टि से (विशेष रूप से संहिता की धारा 197, 173, 309, 437(6) और 468 इत्यादि) और संविधान के अनुच्छेद 21 में स्थापित सांविधानिक संरक्षण द्वारा आदिष्ट हैं । (पैरा 12)

अतः, यह सुस्थापित है कि सभी दांडिक अभियोजनों में शीघ्र विचारण का अधिकार संविधान के अनुच्छेद 21 के अधीन असंक्राम्य है । यह अधिकार न केवल न्यायालय में चल रही वास्तविक कार्यवाहियों को लागू होता है बल्कि उसकी परिधि के अंतर्गत पूर्ववर्ती पुलिस अन्वेषण भी आते हैं । शीघ्र विचारण का अधिकार सभी दांडिक अभियोजनों को समान रूप से लागू होता है और वह किसी विशेष प्रवर्ग के मामलों तक सीमित नहीं है । ऐसे प्रत्येक मामले में, जहां यह अभिकथित किया जाता है कि शीघ्र विचारण संबंधी अधिकार का अतिलंघन किया गया है वहां न्यायालय को ऊपर वर्णित सभी आनुषंगिक परिस्थितियों पर विचार करने के पश्चात् संतुलन बनाए रखना होता है और प्रत्येक मामले में यह अवधारित करना होता है कि क्या उस मामले में शीघ्र विचारण के अधिकार से इनकार किया गया है । जहां न्यायालय इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि किसी अभियुक्त के शीघ्र विचारण संबंधी अधिकार का अतिलंघन किया गया है

वहां यथास्थिति, आरोप या दोषसिद्धि तब तक अभिखंडित नहीं की जा सकती जब तक न्यायालय यह महसूस नहीं करता कि अपराध और अन्य सुसंगत परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए कार्यवाहियों को अभिखंडित करना न्याय के हित में नहीं हो सकता । ऐसी स्थिति में, न्यायालय ऐसा समुचित आदेश करने के लिए स्वतंत्र है जो वह न्यायसंगत और साम्यापूर्ण समझे, जिसके अंतर्गत विचारण पूरा करने के लिए समय-सीमा नियत करना भी है ।(पैरा 15)

प्रस्तुत मामले में संविधान के अनुच्छेद 21 के अधीन मान्यताप्राप्त अपीलार्थी के सांविधानिक अधिकार का उल्लंघन हुआ था । प्रथम प्रक्रम पर एक ऐसे अधिकारी द्वारा अन्वेषण किया गया था जिसे ऐसा करने की अधिकारिता नहीं थी और अपीलार्थी को मात्र इस कारण विचारण में विलंब करने का दोषी नहीं ठहराया जा सकता कि उसने अवैध अन्वेषण को चुनौती देने संबंधी अपने अधिकार का सफलतापूर्वक प्रयोग किया है । बहरहाल, उच्च न्यायालय ने स्वीकृत रूप से तारीख 7 सितम्बर, 1990 के अपने आदेश द्वारा अभियोजन पक्ष को उक्त आदेश की तारीख से तीन मास की अवधि के भीतर अन्वेषण पूरा करने का निदेश दिया था किन्तु इसके पश्चात् ही नया आरोप-पत्र तारीख 1 मई, 2007 को फाइल किया गया था । यह उल्लेख करना भी प्रासंगिक है कि राज्य के विद्वान काउन्सेल को आज तक भी यह निश्चित नहीं है कि अपीलार्थी को अभियोजित करने के लिए मंजूरी की आवश्यकता है अथवा नहीं और यह मंजूरी दी गई है अथवा नहीं । कम से कम 7 दिसम्बर, 1990 से 28 फरवरी, 2007 की अवधि तक अन्वेषण में विलंब होने के लिए किसी प्रकार का कोई स्पष्टीकरण नहीं दिया गया है । ऐसा प्रतीत होता है कि उच्च न्यायालय द्वारा जारी निदेश का भी अभियोजन-पक्ष पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा है और उन्होंने इस मामले के संबंध में लगभग सत्रह वर्ष तक कोई कार्यवाही नहीं की । राज्य द्वारा यह दर्शित करने के लिए कि अन्वेषण या विचारण में जो विलंब हुआ है उसके लिए अपीलार्थी किसी प्रकार से उत्तरदायी है, कुछ साबित करने की बात तो दूर उसने कुछ भी उल्लेख नहीं किया है । अभियोजन-पक्ष ऐसी कोई आपवादिक परिस्थिति दर्शाने में असफल रहा है जिसे अन्वेषण और विचारण में हुए दो दशकों से अधिक के निर्दयी और अनियमित विलंब को माफ करने के लिए संभवतः विचार में लिया जा सकता । उक्त विलंब के बारे में किसी भी प्रकार से यह नहीं कहा जा सकता कि वह अपीलार्थी की ओर से हुए किसी व्यतिक्रम के कारण हुआ था । इस प्रकार, प्रस्तुत मामले के तथ्यों के आधार पर कथित विलंब से स्पष्टतः संविधान के अनुच्छेद

21 के अधीन शीघ्र अन्वेषण और विचारण की सांविधानिक गारंटी का उल्लंघन होता है । इन परिस्थितियों में, विशेष न्यायाधीश, मुजफ्फरपुर के न्यायालय में अपीलार्थी के विरुद्ध लंबित दांडिक कार्यवाहियों का आगे चलते रहना अनपेक्षित है और इस तथ्य के बावजूद कि उसके विरुद्ध लगाए गए अभिकथन काफी गंभीर हैं, वे अभिखंडित किए जाने योग्य हैं । (पैरा 16)

अवलंबित निर्णय

		पैरा
[1992]	(1992) सप्ली. 1 एस. सी. सी. 335 : **हरियाणा राज्य और अन्य** बनाम **भजन लाल और अन्य ;**	9,10
[1992]	(1992) 4 एस. सी. सी. 305 : **जनता दल** बनाम **एच. एस. चौधरी और अन्य ;**	9
[1980]	(1980) 1 एस. सी. सी. 81 : **हुसैनआरा खातून और अन्य** बनाम **गृह सचिव, बिहार राज्य ;**	12,13
[1978]	(1978) 1 एस. सी. सी. 248 : **मेनका गांधी** बनाम **भारत संघ और अन्य ;**	12
[1977]	(1977) 4 एस. सी. सी. 451 : **कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय और एक अन्य** बनाम **हरियाणा राज्य और एक अन्य ।**	9

अनुसृत निर्णय

[2002]	(2002) 4 एस. सी. सी. 578 : **पी. रामचन्द्र राव** बनाम **कर्नाटक राज्य ;**	14
[1992]	(1992) 1 एस. सी. सी. 225 : **अब्दुल रहमान अंतुले और अन्य** बनाम **आर. एस. नायक और एक अन्य ।**	13,14

निर्दिष्ट निर्णय

[1999]	(1999) 7 एस. सी. सी. 604 : **राज देव शर्मा II** बनाम **बिहार राज्य ;**	14

[1998]	(1998) 7 एस. सी. सी. 507 : **राज़ देव शर्मा** बनाम **बिहार राज्य** ;	14
[1996]	(1996) 6 एस. सी. सी. 774 : **कामन काज़ एक रजिस्ट्रीकृत सोसायटी** बनाम **भारत संघ और अन्य** ;	14
[1996]	(1996) 4 एस. सी. सी. 33 : **कामन काज़ एक रजिस्ट्रीकृत सोसायटी** बनाम **भारत संघ और अन्य** ।	14

अपीली (दांडिक) अधिकारिता : 2009 की दांडिक अपील सं. 138.

1998 के दांडिक प्रकीर्ण सं. 17513 में पटना उच्च न्यायालय के तारीख 9 जुलाई, 2007 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध अपील ।

अपीलार्थी की ओर से श्री अखिलेश कुमार और सुश्री शालिनी चन्द्रा

प्रत्यर्थी की ओर से श्री मनीष कुमार और गोपाल सिंह

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति डी. के. जैन ने दिया ।

न्या. जैन – इजाजत दी जाती है ।

2. इस अपील में 1998 के दांडिक प्रकीर्ण सं. 17513 में पटना उच्च न्यायालय द्वारा पारित तारीख 9 जुलाई, 2007 के आदेश को चुनौती दी गई है । आक्षेपित आदेश द्वारा उच्च न्यायालय ने अपीलार्थी द्वारा दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 482 के अधीन फाइल की गई वह याचिका खारिज कर दी जिसमें उसके विरुद्ध 1987 के विशेष मामला सं. 29 में भारतीय दंड संहिता, 1860 की धारा 161 (2001 के अधिनियम सं. 30 द्वारा इसका लोप किए जाने से पूर्व), धारा 109 और धारा 120ख तथा भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 (जिसे संक्षेप में 'अधिनियम' कहा गया है) की धारा 5(2) के अधीन अभिकथित रूप से अपराध कारित करने के लिए विशेष न्यायाधीश, मुजफ्फरपुर के समक्ष लंबित कार्यवाहियों को अभिखंडित करने की ईप्सा की गई थी ।

3. इस मामले का इतिवृत्त बहुत पुराना है और इसलिए पक्षकारों के परस्पर विरोधी पक्षकथनों का मूल्यांकन करने के लिए तथ्यों की पृष्ठभूमि की कुछ अधिक विस्तार से अवेक्षा करना आवश्यक होगा ।

इस मामले की उत्पत्ति बहुत पहले तारीख 8 अप्रैल, 1981 को हुई जब पुलिस अधीक्षक, अपराध अन्वेषण विभाग (सतर्कता), मुजफ्फरपुर के कार्यालय द्वारा किसी सिविल ठेकेदार द्वारा अपीलार्थी के विरुद्ध, जोकि बिहार राज्य विद्युत बोर्ड (सिविल) मुजफ्फरपुर में सहायक इंजीनियर था, उसके द्वारा निष्पादित सिविल कार्य के लिए भुगतान कराने हेतु अवैध परितोषण के रूप में 1000 रुपए की रकम की अभिकथित मांग करने के लिए दर्ज की गई शिकायत के आधार पर तलाशी प्रक्रिया की गई थी । यह कहा गया है कि दोषी को पकड़ने के लिए रचे गए जाल में अपीलार्थी की जेब में से रसायन लगे करेंसी नोट बरामद किए गए थे । इसकी अनुवर्ती कार्रवाई के रूप में पुलिस निरीक्षक द्वारा अन्वेषण करने के पश्चात् अपीलार्थी के विरुद्ध ऊपर उल्लिखित अपराधों के लिए तारीख 28 फरवरी, 1982 को एक आरोप-पत्र फाइल किया गया था । मजिस्ट्रेट ने तारीख 9 दिसम्बर, 1982 को संज्ञान लिया । तारीख 6 जुलाई, 1987 तक कुछ भी महत्वपूर्ण कार्यवाही नहीं हुई सिवाय इसके कि जब मामला मुजफ्फरपुर से पटना अंतरित कर दिया गया तब अभियोजन-पक्ष द्वारा मामले के पुनः अन्वेषण के लिए फाइल किया गया तारीख 30 जून, 1983 का आवेदन खारिज कर दिया गया ।

4. तारीख 7 दिसम्बर, 1990 को अपीलार्थी ने मुजफ्फरपुर के विशेष न्यायाधीश द्वारा उक्त अपराधों का संज्ञान करने के लिए पारित आदेश के विरुद्ध इस आधार पर पटना उच्च न्यायालय के समक्ष दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के अधीन याचिका फाइल की कि उस पुलिस निरीक्षक को, जिसने अन्वेषण किया था और जिसके आधार पर आरोप-पत्र फाइल किया गया था, ऐसा करने की कोई अधिकारिता नहीं थी । उच्च न्यायालय ने, अपीलार्थी के अभिवाक् को स्वीकार करते हुए तारीख 7 दिसम्बर, 1990 के आदेश द्वारा संज्ञान करने संबंधी मजिस्ट्रेट के आदेश को अभिखंडित कर दिया और अभियोजन को यह निदेश दिया कि इस आदेश की प्राप्ति के तीन मास की अवधि के भीतर पुलिस उप-अधीक्षक के रैंक के किसी अधिकारी या उसके द्वारा इस निमित्त प्राधिकृत किसी अन्य अधिकारी द्वारा अन्वेषण पूरा कराया जाए । इस मामले में आगे कोई प्रगति नहीं हुई और मामला वर्ष 1998 तक वहीं रहा जब कि अपीलार्थी ने दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के अधीन मुख्यतः इस आधार पर कि उच्च न्यायालय द्वारा तारीख 7 दिसम्बर, 1990 को आदेश पारित करने के साढ़े सात वर्ष व्यतीत हो जाने के पश्चात् भी मामले का पुनः अन्वेषण आरंभ नहीं हुआ था और

इस प्रक्रिया में अपीलार्थी को अठारह वर्ष से भी अधिक समय तक असम्यक् परेशानी हुई थी, उसके विरुद्ध लंबित समस्त दांडिक कार्यवाहियों को अभिखंडित करने की ईप्सा करते हुए एक अन्य याचिका फाइल की जिसके कारण प्रस्तुत अपील उद्भूत हुई । उक्त याचिका 20 नवम्बर, 1998 को अंतिम सुनवाई के लिए ग्रहण कर ली गई थी ।

5. अंततः, जब लगभग नौ वर्ष के पश्चात्, अर्थात् 11 मई, 2007 को मामला अंतिम सुनवाई के लिए प्रस्तुत किया गया तब सतर्कता विभाग के काउन्सेल ने अन्वेषण के प्रक्रम के बारे में अनुदेशों की ईप्सा करने के लिए समय मांगा । इसके परिणामस्वरूप अभियोजन-पक्ष की ओर से एक शपथपत्र फाइल किया गया जिसमें अन्य बातों के साथ-साथ यह कथन किया गया कि पुलिस अधीक्षक, मुंजफ्फरपुर ने तारीख 22 फरवरी, 2007 के अपने पत्र द्वारा पुलिस उप-अधीक्षक को अन्वेषण पूरा करने का निदेश दिया था । उप-अधीक्षक ने उक्त निदेश के अनुसरण में तारीख 28 फरवरी, 2007 को अन्वेषण आरंभ किया और अंततः तारीख 1 मई, 2007 को नया आरोप-पत्र फाइल किया ।

6. उच्च न्यायालय ने, जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है, याचिका खारिज कर दी । विद्वान न्यायाधीश ने इस बात को स्वीकार करते हुए कि अपीलार्थी के विरुद्ध कार्यवाहियों को पूरा करने में पर्याप्त विलंब हुआ है और अपीलार्थी के विरुद्ध दांडिक मामला चलते रहने के कारण उसके वृत्तिक कैरियर पर कुछ प्रतिकूल प्रभाव पड़ा होगा क्योंकि इसी बीच उसे प्रोन्नति से वंचित किया गया था, अंततः यह निष्कर्ष निकाला कि यह कारण अपने आप में और विशेषकर अभिकथनों की गंभीरता को ध्यान में रखते हुए उसके विरुद्ध समस्त दांडिक कार्यवाहियों को अभिखंडित करने के लिए पर्याप्त नहीं था । तथापि, विद्वान न्यायाधीश ने विचारण न्यायालय को मामले का विचारण लगातार करने और उसे चार मास की अवधि के भीतर पूरा करने का निदेश दिया । न्यायालय ने यह भी निदेश दिया कि यदि अब तक राज्य सरकार की मंजूरी नहीं ली गई है तो राज्य सरकार द्वारा इस आदेश की तारीख से छह सप्ताह की अवधि के भीतर मंजूरी प्रदान करने के प्रश्न पर विचार किया जाएगा । उक्त विनिश्चय से व्यथित होकर अपीलार्थी ने प्रस्तुत अपील फाइल की है ।

7. अपीलार्थी की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान काउन्सेल ने प्रबल रूप से यह निवेदन किया है कि यद्यपि अपीलार्थी के विरुद्ध मामला दर्ज किए जाने से लगभग अट्ठाईस वर्ष की अवधि बीत चुकी है, तथापि

विधि के अनुसार विचारण अभी आरंभ होना है और इस प्रकार अपीलार्थी को संविधान के अनुच्छेद 21 से उद्भूत शीघ्र अन्वेषण और विचारण करने संबंधी उसके सांविधानिक अधिकार से वंचित किया गया है । यह अभिवाक् किया गया कि अभिभावी परिस्थितियों और इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि यह अब तक स्पष्ट नहीं है कि अपीलार्थी को अभियोजित करने संबंधी अपेक्षित मंजूरी प्रदान की गई है अथवा नहीं, यह उत्कृष्ट रूप से ऐसा उपयुक्त मामला है जिसमें अपीलार्थी के विरुद्ध फाइल किया गया आरोप-पत्र अभिखंडित किया जाना चाहिए ।

8. इसके विपरीत, राज्य की ओर से विद्वान काउन्सेल ने यह दलील दी कि अपीलार्थी के विरुद्ध अभिकथित अपराधों की गंभीरता को ध्यान में रखते हुए, उच्च न्यायालय द्वारा दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के अधीन अपनी अंतर्निहित शक्तियों का प्रयोग करते समय ध्यान में रखे जाने वाले सही सिद्धांतों को लागू करते हुए याचिका को खारिज करना पूर्णतः न्यायोचित था । विद्वान काउन्सेल ने यह निवेदन भी किया कि विचारण में विलंब भी कुछ सीमा तक अपीलार्थी के कारण हुआ क्योंकि उसी ने ही विलंब से अन्वेषण अधिकारी की अधिकारिता को प्रश्नगत किया । विद्वान काउन्सेल ने यह दलील भी दी कि मामला मुजफ्फरपुर से पटना और फिर पटना से मुजफ्फरपुर अंतरित करने के कारण विचारण में विलंब होने के लिए अभियोजन-पक्ष को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता था ।

9. मुख्य विवाद्यक पर, अर्थात् अपीलार्थी इन परिस्थितियों में अपने विरुद्ध चल रही समस्त दांडिक कार्यवाहियों को अभिखंडित कराने के लिए उच्च न्यायालय में आवेदन करने का हकदार था अथवा नहीं, विचार करने से पूर्व उन परिस्थितियों और पैरामीटर की अवेक्षा करना उचित होगा जिन्हें इस न्यायालय द्वारा अनेक विनिश्चयों में प्रतिपादित और दोहराया गया है जिनके अधीन उच्च न्यायालय किसी न्यायालय की प्रक्रिया का दुरुपयोग करने से निवारित करने या अन्यथा न्याय के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के अधीन अपनी अंतर्निहित शक्तियों का प्रयोग कर सकता है । निसंदिग्ध रूप से, उक्त उपबंध के अधीन उच्च न्यायालय को जो शक्ति प्राप्त है वह बहुत व्यापक है किन्तु उसका प्रयोग समुचित मामलों में, न्यायानुसार वास्तविक और सारभूत न्याय के लिए करना होता है जिसके प्रशासन के लिए ही न्यायालय विद्यमान हैं । अंतर्निहित शक्तियां उच्च न्यायालय को सनक या मनमर्जी के अनुसार कार्य करने की मनमानी अधिकारिता प्रदान नहीं करतीं । यह कहना सही है

कि उक्त शक्तियों का प्रयोग यदा-कदा और छानबीन के पश्चात् ही वहां किया जाना चाहिए जहां अभिलेख पर विद्यमान सामग्री के आधार पर न्यायालय का यह समाधान हो जाता है कि कार्यवाहियां चलते रहने के लिए अनुज्ञात करने से न्यायालय की प्रक्रिया का दुरुपयोग होगा या न्याय के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए यह आवश्यक है कि कार्यवाहियां अभिखंडित की जानी चाहिएं । [**कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय और एक अन्य** बनाम **हरियाणा राज्य और एक अन्य**[1], **जनता दल** बनाम **एच. एस. चौधरी और अन्य**[2] और **हरियाणा राज्य और अन्य** बनाम **भजन लाल और अन्य**[3] वाले मामले देखिए]

10. **भजन लाल** वाले (उपर्युक्त) मामले में दृष्टांत के रूप में मामलों के ऐसे सात प्रवर्ग विरचित करते समय जिनमें उच्च न्यायालय द्वारा न्यायालय की प्रक्रिया का दुरुपयोग रोकने के लिए ऊपर कथित उपबंधों के अधीन असाधारण शक्ति का प्रयोग किया जा सकता था, यह स्पष्ट किया गया था कि ऐसे संक्षिप्त और अनम्य दिशानिर्देश या कोई कठोर फार्मूला अधिकथित करना या ऐसी परिस्थितियों की कोई सर्वांगीण सूची देना संभव नहीं था जिनमें ऐसी शक्ति का प्रयोग किया जा सकता था । यही मत पश्चात्वर्ती कई विनिश्चयों में भी दोहराया गया है ।

11. हमारी राय यह है कि ऊपर उल्लिखित तथ्यात्मक पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए और इसके पश्चात् वर्णित कारणों से यह एक ऐसा उपयुक्त मामला है जिसमें उच्च न्यायालय को दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के अधीन अपनी शक्तियों का प्रयोग करना चाहिए था ।

12. इस न्यायालय ने समय-समय पर शीघ्र अन्वेषण और विचारण की आवश्यकता पर जोर दिया है क्योंकि दोनों दंड प्रक्रिया संहिता के उपबंधों की भाषा और भाव की दृष्टि से (विशेष रूप से संहिता की धारा 197, 173, 309, 437(6) और 468 इत्यादि) और संविधान के अनुच्छेद 21 में स्थापित सांविधानिक संरक्षण द्वारा आदिष्ट हैं । अनुच्छेद 21 की व्यापक परिधि और अंतर्वस्तु का जैसा निर्वचन इस न्यायालय के सात न्यायाधीशों की न्यायपीठ ने **मेनका गांधी** बनाम **भारत संघ और अन्य**[4] वाले

---

[1] (1977) 4 एस. सी. सी. 451.

[2] (1992) 4 एस. सी. सी. 305.

[3] (1992) सप्ली. 1 एस. सी. सी. 335.

[4] (1978) 1 एस. सी. सी. 248.

मामले में किया है, उससे प्रेरित होकर इस न्यायालय ने **हुसैनआरा खातून और अन्य** बनाम **गृह सचिव, बिहार राज्य**[1] वाले मामले में यह मत व्यक्त किया था कि अनुच्छेद 21 प्रत्येक व्यक्ति को यह मूल अधिकार प्रदान करता है कि उसे प्राण या दैहिक स्वतंत्रता से विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अनुसार ही वंचित किया जाएगा, अन्यथा नहीं; यह कि ऐसी प्रक्रिया किसी प्रक्रिया का कुछ प्रतिरूप न हो बल्कि प्रक्रिया 'युक्तिसंगत, उचित और न्यायसंगत' होनी चाहिए; और उससे निस्संदेह शीघ्र विचारण का अधिकार उद्भूत होता हो । यह भी मत व्यक्त किया गया था कि ऐसी किसी प्रक्रिया को, जो युक्तिसंगत रूप से त्वरित विचारण सुनिश्चित नहीं करती, युक्तिसंगत, उचित या न्यायसंगत प्रक्रिया नहीं समझा जा सकता और यह अनुच्छेद 21 को विकृत कर देगी । न्यायालय ने यह स्पष्ट किया कि शीघ्र विचारण से युक्तिसंगत रूप से ऐसा द्रुत विचारण अभिप्रेत है जोकि अनुच्छेद 21 में प्रतिष्ठापित प्राण और स्वाधीनता के मूल अधिकार का अभिन्न और आवश्यक अंग है ।

13. **हुसैनआरा खातून** वाले (उपर्युक्त) मामले में अनुच्छेद 21 की प्रतिपादना के संबंध में **अब्दुल रहमान अंतुले और अन्य** बनाम **आर. एस. नायक और एक अन्य**[2] वाले मामले में संविधान न्यायपीठ द्वारा नए सिरे से सर्वांगीण रूप से विचार किया गया था । न्यायालय ने इस न्यायालय के अनेक विनिश्चयों और अमेरिकन संविधान के छठे संशोधन के संबंध में उनके पूर्व-निर्णयों के प्रति निर्देश करते हुए, जिनमें शीघ्र और लोक विचारण संबंधी अधिकार को सांविधानिक गारंटी बनाया गया था, इस चेतावनी के साथ ग्यारह प्रतिपादनाएं विरचित कीं कि ये निःशेष नहीं हैं और केवल मार्गदर्शी सिद्धांतों के रूप में प्रयोग में लाए जाने के लिए हैं । संक्षिप्तता की दृष्टि से हम सभी उक्त प्रतिपादनाओं को उद्धृत करना नहीं चाहते हैं और उसके सारांश का उल्लेख करना ही पर्याप्त होगा । ये प्रतिपादनाएं इस प्रकार हैं : (i) संविधान के अनुच्छेद 21 में विवक्षित ऋजु, न्यायसंगत और युक्तियुक्त प्रक्रिया अभियुक्त को शीघ्र विचारण किए जाने का अधिकार प्रदान करती है; (ii) अनुच्छेद 21 से उद्भूत होने वाला शीघ्र विचारण का अधिकार सभी प्रक्रमों को, अर्थात्, अन्वेषण, जांच, विचारण, अपील, पुनरीक्षण और पुनः विचारण के प्रक्रमों को अपने में सम्मिलित

[1] (1980) 1 एस. सी. सी. 81.
[2] (1992) 1 एस. सी. सी. 225.

करता है; (iii) प्रत्येक ऐसे मामले में, जहां शीघ्र विचारण के अधिकार का अतिलंघन किया जाना अभिकथित हो, वहां प्रथम प्रश्न जो उठता है और जिसका उत्तर देना होता है, वह यह होता है कि विलंब के लिए कौन उत्तरदायी है ? ; (iv) इस बारे में अवधारण करते समय कि क्या असम्यक् विलंब हुआ है (जिसके परिणामस्वरूप शीघ्र विचारण के अधिकार का उल्लंघन हुआ है) सभी विद्यमान परिस्थितियों को ध्यान में रखना चाहिए जिनके अंतर्गत अपराध की प्रकृति, अभियुक्त और साक्षियों की संख्या, संबद्ध न्यायालय में कार्य का भार, विद्यमान स्थानीय दशाएं और आदि-आदि भी हैं, जिन्हें क्रमबद्ध विलंब कहा जाता है ; (v) प्रत्येक विलंब से अभियुक्त पर अनिवार्यतः प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता । कुछ विलंब उसके लिए लाभप्रद हो सकते हैं । तथापि अत्यधिक लंबे विलंब को प्रतिकूल प्रभाव के प्रकल्पित सबूत के रूप में लिया जा सकता है । इस संदर्भ में अभियुक्त की कैद का तथ्य भी एक सुसंगत तथ्य होगा । अभियोजन को एक उत्पीड़न नहीं बनने देना चाहिए । किन्तु अभियोजन कब उत्पीड़न बन जाता है, यह बात भी प्रत्येक मामले के अलग-अलग तथ्यों पर निर्भर करती है ; (vi) अंततः, न्यायालय को संतुलन बनाए रखना है और अनेक सुसंगत पहलुओं को, - 'संतुलन की कसौटी' और 'संतुलन की प्रक्रिया' पर तोलना होगा और प्रत्येक मामले में यह अवधारित करना है कि क्या शीघ्र विचारण के अधिकार से इनकार किया गया है ; (vii) सामान्यतः बोलचाल में, जहां पर न्यायालय इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि किसी अभियुक्त के शीघ्र विचारण के अधिकार का अतिलंघन किया गया है तो, यथास्थिति, आरोप या दोषसिद्धि अभिखंडित कर दी जाएगी । किन्तु यही एकमात्र उपाय नहीं है और अपराध की प्रकृति और अन्य परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए जब न्यायालय यह महसूस करता है कि कार्यवाहियों को अभिखंडित करना न्याय के हित में नहीं हो सकता तब न्यायालय को समुचित आदेश करने की स्वतंत्रता होती है, जिसमें विचारण पूरा करने की अवधि नियत करना शामिल है ; (viii) सभी दांडिक कार्यवाहियां पूरी करने के लिए कोई ऊपरी समय-सीमा विहित करना न तो वांछनीय है और न ही व्यवहार्य है । शीघ्र विचारण के अधिकार से इनकार किए जाने की शिकायत के प्रत्येक मामले में अभियोजन पक्ष को प्राथमिक रूप से उक्त विलंब को न्यायोचित ठहराना होगा और उसका स्पष्टीकरण देना होगा । इसके साथ-साथ, न्यायालय का यह कर्तव्य है कि उक्त शिकायत पर निर्णय सुनाने से पूर्व उस विशिष्ट

मामले की सभी परिस्थितियों को तोले; (ix) शीघ्र विचारण के अधिकार से इनकार करने पर आधारित कोई आपत्ति और उस आधार पर अनुतोष के लिए आवेदन पहले उच्च न्यायालय के समक्ष किया जाना चाहिए । भले ही उच्च न्यायालय ऐसे किसी अभिवाक् को ग्रहण कर लेता है तो भी साधारणतः उसे गंभीर और आपवादिक प्रकृति के किसी मामले के सिवाय कार्यवाहियों को नहीं रोकना चाहिए । तथापि, उच्च न्यायालय में ऐसी कार्यवाहियों का निपटारा पूर्विकता के आधार पर किया जाना चाहिए ।

14. **अब्दुल रहमान अंतुले** वाले (उपर्युक्त) मामले में संविधान के अनुच्छेद 21 की विस्तृत प्रतिपादना और शीघ्र विचारण संबंधी अधिकार के प्रस्तावकों के इस उत्साही अभिवाक् को नामंजूर किए जाने के बावजूद कि वर्जन के रूप में ऐसी समय-सीमाएं अधिकथित की जाए जिनसे परे दांडिक विचारण में आगे कार्यवाही नहीं की जाएगी, **कामन काज़ एक रजिस्ट्रीकृत सोसायटी** बनाम **भारत संघ और अन्य**[1], **कामन काज़ एक रजिस्ट्रीकृत सोसायटी** बनाम **भारत संघ और अन्य**[2], **राज देव शर्मा** बनाम **बिहार राज्य**[3] और **राज देव शर्मा II** बनाम **बिहार राज्य**[4] वाले मामलों में इस न्यायालय के निर्णयों से इस प्रश्न के संबंध में कुछ भ्रम उत्पन्न हो गया कि क्या दांडिक कार्यवाहियों को पूरा करने के लिए कोई ऐसी ऊपरी समय-सीमा विहित की जा सकती थी जिसके पश्चात् विचारण न्यायालय कार्यवाहियों को समाप्त करने और अभियुक्त को अनिवार्य रूप से दोषमुक्त या छोड़ने के लिए बाध्य होगा । इस मुद्दे के संबंध में जो भ्रम था उसे इस न्यायालय के सात न्यायाधीशों की न्यायपीठ ने **पी. रामचन्द्र राव** बनाम **कर्नाटक राज्य**[5] वाले मामले में दूर कर दिया । न्यायमूर्ति आर. सी. लहोटी ने (जैसे कि माननीय न्यायमूर्ति तब थे) बहुमत की ओर से निर्णय सुनाते हुए इस बात की अभिपुष्टि करते समय कि **ए. आर. अंतुले** वाले (उपर्युक्त) मामले में किया गया कथन सही है और वह ऐसा निर्णय है जो अब भी संविधान के अनुच्छेद 21 से उद्भूत होने वाले क्षेत्र और प्रतिपादनाओं को लागू होता

---

[1] (1996) 4 एस. सी. सी. 33.

[2] (1996) 6 एस. सी. सी. 774.

[3] (1998) 7 एस. सी. सी. 507.

[4] (1999) 7 एस. सी. सी. 604.

[5] (2002) 4 एस. सी. सी. 578.

है और उक्त मामले में मार्गदर्शक सिद्धांतों के रूप में अधिकथित शीघ्र विचारण संबंधी अधिकार के संबंध में की गई प्रतिपादनाओं में शीघ्र विचारण के अधिकार को पर्याप्त रूप से ध्यान में रखा गया है, यह अभिनिर्धारित किया गया था कि **ए. आर. अंतुले** वाले (उपर्युक्त) मामले में अधिकथित मार्गदर्शक सिद्धांत निःशेष नहीं हैं बल्कि वे दृष्टांतस्वरूप हैं । वे निश्चित नियमों के रूप में प्रवर्तित किए जाने या कठोर फार्मूले के रूप में लागू किए जाने के लिए आशयित नहीं हैं । उनकी उपयोज्यता प्रत्येक मामले की तथ्यात्मक स्थिति पर निर्भर करेगी क्योंकि सभी स्थितियों की प्रत्याशा करना कठिन है और कोई सामान्यीकरण नहीं किया जा सकता । यह भी अभिनिर्धारित किया गया है कि सभी दांडिक कार्यवाहियों को पूरा करने के लिए कोई ऊपरी समय-सीमा खींचना या विहित करना न तो उपयुक्त, न ही साध्य तथा न ही न्यायिक रूप से अनुज्ञेय है । फिर भी, दांडिक न्यायालयों को अपनी उपलब्ध शक्तियों, अर्थात्, दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 309, 311 और 258 के अधीन शक्तियों का प्रयोग शीघ्र विचारण के अधिकार को प्रभावी करने के लिए करना चाहिए । समुचित मामलों में, समुचित अनुतोष या उपयुक्त निदेशों की ईप्सा करने के लिए दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 और संविधान के अनुच्छेद 226 और अनुच्छेद 227 के अधीन उच्च न्यायालय की अधिकारिता का अवलंब लिया जा सकता है । ऊपर उल्लिखित निर्णयों में प्रतिपादित ऊपरी सीमाओं या परिसीमा की शक्ति के बारे में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि वे विधायी आशय के अनुरूप नहीं हैं ।

15. अतः, यह सुस्थापित है कि सभी दांडिक अभियोजनों में शीघ्र विचारण का अधिकार संविधान के अनुच्छेद 21 के अधीन असंक्राम्य है । यह अधिकार न केवल न्यायालय में चल रही वास्तविक कार्यवाहियों को लागू होता है बल्कि उसकी परिधि के अंतर्गत पूर्ववर्ती पुलिस अन्वेषण भी आते हैं । शीघ्र विचारण का अधिकार सभी दांडिक अभियोजनों को समान रूप से लागू होता है और वह किसी विशेष प्रवर्ग के मामलों तक सीमित नहीं है । ऐसे प्रत्येक मामले में, जहां यह अभिकथित किया जाता है कि शीघ्र विचारण संबंधी अधिकार का अतिलंघन किया गया है वहां न्यायालय को ऊपर वर्णित सभी आनुषंगिक परिस्थितियों पर विचार करने के पश्चात् संतुलन बनाए रखना होता है और प्रत्येक मामले में यह अवधारित करना

होता है कि क्या उस मामले में शीघ्र विचारण के अधिकार से इनकार किया गया है । जहां न्यायालय इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि किसी अभियुक्त के शीघ्र विचारण संबंधी अधिकार का अतिलंघन किया गया है वहां यथास्थिति, आरोप या दोषसिद्धि तब तक अभिखंडित नहीं की जा सकती जब तक न्यायालय यह महसूस नहीं करता कि अपराध और अन्य सुसंगत परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए कार्यवाहियों को अभिखंडित करना न्याय के हित में नहीं हो सकता । ऐसी स्थिति में, न्यायालय ऐसा समुचित आदेश करने के लिए स्वतंत्र है जो वह न्यायसंगत और साम्यापूर्ण समझे, जिसके अंतर्गत विचारण पूरा करने के लिए समय-सीमा नियत करना भी है ।

16. ऊपर प्रगणित व्यापक सिद्धांतों की कसौटी पर परखने से हमारा यह समाधान हो गया है कि प्रस्तुत मामले में संविधान के अनुच्छेद 21 के अधीन मान्यताप्राप्त अपीलार्थी के सांविधानिक अधिकार का उल्लंघन हुआ था । ऊपर वर्णित तथ्यों से यह प्रकट होता है कि प्रथम प्रक्रम पर एक ऐसे अधिकारी द्वारा अन्वेषण किया गया था जिसे ऐसा करने की अधिकारिता नहीं थी और अपीलार्थी को मात्र इस कारण विचारण में विलंब करने का दोषी नहीं ठहराया जा सकता कि उसने अवैध अन्वेषण को चुनौती देने संबंधी अपने अधिकार का सफलतापूर्वक प्रयोग किया है । बहरहाल, उच्च न्यायालय ने स्वीकृत रूप से तारीख 7 सितम्बर, 1990 के अपने आदेश द्वारा अभियोजन पक्ष को उक्त आदेश की तारीख से तीन मास की अवधि के भीतर अन्वेषण पूरा करने का निदेश दिया था किन्तु 27 फरवरी, 2007 तक कुछ नहीं हुआ जब कि पुलिस अधीक्षक, मुंजफ्फरपुर ने अपीलार्थी द्वारा अन्वेषण में विलंब होने के बारे में फाइल की गई द्वितीय याचिका में सूचना प्राप्त होने के पश्चात् पुलिस उप-अधीक्षक को अन्वेषण पूरा करने का निदेश दिया । यह कहा गया है कि इसके पश्चात् ही नया आरोप-पत्र तारीख 1 मई, 2007 को फाइल किया गया था । यह उल्लेख करना भी प्रासंगिक है कि राज्य के विद्वान काउन्सेल को आज तक भी यह निश्चित नहीं है कि अपीलार्थी को अभियोजित करने के लिए मंजूरी की आवश्यकता है अथवा नहीं और यह मंजूरी दी गई है अथवा नहीं । हमें यह अभिनिर्धारित करने में कोई हिचकिचाहट नहीं है कि कम से कम 7 दिसम्बर, 1990 से 28 फरवरी, 2007 की अवधि तक अन्वेषण में विलंब होने के लिए किसी

प्रकार का कोई स्पष्टीकरण नहीं दिया गया है । ऐसा प्रतीत होता है कि उच्च न्यायालय द्वारा जारी निदेश का भी अभियोजन-पक्ष पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा है और उन्होंने इस मामले के संबंध में लगभग सत्रह वर्ष तक कोई कार्यवाही नहीं की । राज्य द्वारा यह दर्शित करने के लिए कि अन्वेषण या विचारण में जो विलंब हुआ है उसके लिए अपीलार्थी किसी प्रकार से उत्तरदायी है, कुछ साबित करने की बात तो दूर उसने कुछ भी उल्लेख नहीं किया है । अभियोजन-पक्ष ऐसी कोई आपवादिक परिस्थिति दर्शाने में असफल रहा है जिसे अन्वेषण और विचारण में हुए दो दशकों से अधिक के निर्दयी और अनियमित विलंब को माफ करने के लिए संभवतः विचार में लिया जा सकता । उक्त विलंब के बारे में किसी भी प्रकार से यह नहीं कहा जा सकता कि वह अपीलार्थी की ओर से हुए किसी व्यतिक्रम के कारण हुआ था । इस प्रकार, हमारी राय में, प्रस्तुत मामले के तथ्यों के आधार पर कथित विलंब से स्पष्टतः संविधान के अनुच्छेद 21 के अधीन शीघ्र अन्वेषण और विचारण की सांविधानिक गारंटी का उल्लंघन होता है । हम यह महसूस करते हैं कि इन परिस्थितियों में, विशेष न्यायाधीश, मुजफ्फरपुर के न्यायालय में अपीलार्थी के विरुद्ध लंबित दांडिक कार्यवाहियों का आगे चलते रहना अनपेक्षित है और इस तथ्य के बावजूद कि उसके विरुद्ध लगाए गए अभिकथन काफी गंभीर हैं, वे अभिखंडित किए जाने योग्य हैं ।

17. परिणामस्वरूप, अपील मंजूर की जाती है और 1987 के विशेष मामला सं. 29 में अपीलार्थी के विरुद्ध लंबित कार्यवाहियां तद्द्वारा अभिखंडित की जाती हैं ।

अपील मंजूर की गई ।

ग्रो.